३८ निष्काम कर्मयोग

□ महात्मा गांधी

हे पापरहित अर्जुन ! आरंभ से ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं—एक में ज्ञान की प्रधानता है और दूसरे में कर्म की । पर तू स्वयं देख ले कि कर्म के बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्म के ज्ञान आता ही नहीं । सब छोड़कर बैठ जाने वाला मनुष्य सिद्धपुरुष नहीं कहला सकता ।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है । उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायेगा । जगत् का यह नियम होने पर भी जो मनुष्य हाथ-पाँव ढीले करके बैठा रहता है और मन में तरह-तरह के मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायेगा । क्या इससे यह अच्छा नहीं कि इन्द्रियों को वश में रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोरगुल के बिना, आसक्ति के बिना अर्थात् अनासक्त भाव से, मनुष्य हाथ-पाँवों से कुछ कर्म करे, कर्मयोग का आचरण करे ? नियत कर्म—तेरे हिस्से में आया हुआ सेवा कार्य—तू इन्द्रियों को वश में रखकर करता रह । आलसी की भाँति बैठे रहने से यह कहीं अच्छा है । आलसी होकर बैठे रहने वाले के शरीर का अंत में पतन हो जाता है । पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिये कि यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगों को बंधन में रखते हैं । यज्ञ के मानी है, अपने लिये नहीं, बल्कि दूसरे के लिये, परोपकार के लिये, किया हुआ श्रम, अर्थात् संक्षेप में सेवा । और जहाँ सेवा के निमित्त ही सेवा की जायेगी, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा । ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह । ब्रह्मा ने जगत् उपजाने के साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो, हमारे कान में यह मंत्र फूँका कि पृथ्वी पर जाओ, एक दूसरे की सेवा करो और फूलो-फलो, जीव मात्र को देवतारूप जानो, इन देवों की सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे । प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनोवांछित फल देंगे । इसलिये यह समझना चाहिये कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगों का, जीवमात्र का भाग उन्हें पहुँचाने के बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगने का अधिकार है । अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है । इससे उलटा, जो अपने लिये ही कमाता है—मजदूरी करता है—वह पापी है और पाप का अन्न खाता है । सृष्टि का नियम ही यह है कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है । अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ जीव नहीं है वहाँ वर्षा नहीं पायी जाती। जहां जीव है वहाँ वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी है। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता और मूढ़ जीवों के लिये जब यह सत्य है, तो मनुष्य के लिये यह कितने अधिक अंश में लागू होना चाहिये ? इससे भगवान ने कहा, कर्म को ब्रह्मा ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मा से हुई, इसलिये यह समझना चाहिये कि यज्ञ मात्र में, सेवा मात्र में अक्षर ब्रह्मा, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणाली का जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आन्तरिक शान्ति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्त्तव्य नहीं है, उसे कर्म करने से कोई फायदा नहीं, न करने से कोई हानि नहीं है। किसी के संबंध में कोई स्वार्थ उसे न होने पर भी यज्ञ कार्य को वह छोड़ नहीं सकता। इससे तू तो कर्त्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है, वह ईश्वर साक्षात्कार करता है। फिर जनक—जैसे निस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धि को प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहित के लिये कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है ? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जाने वाले मनुष्य आचरण करते हैं उनका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था ? पर मैं चौबीसों घंटा बिना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक परिमाण में बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊँ तो जगत का क्या हो ? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायें और इन सबको गति देने वाला, नियम में रखने वाला तो मैं ही ठहरा। किन्तु लोगों में और मुझ में इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, और लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थ में पड़े भागते रहते हैं। यदि मुझ जैसा बुद्धिमान कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धि भ्रष्ट हो जायेंगे। मुझे तो आसक्ति रहित होकर कर्त्तव्य करना चाहिये, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपने में मौजूद स्वाभाविक गुणों के वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि "मैं करता हूँ"। सांस लेना, यह जीवमात्र की प्रकृति है, स्वभाव है। आँख पर किसी मक्खी आदि के बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावतः ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं सांस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायें, सब स्वाभाविक रीति से गुण के अनुसार क्यों न किये जायें ? उनके लिये अहंकार क्या ? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करने का सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्य में से अहंकार वृत्ति का, स्वार्थ का नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जंजाल में से छूट जाता है। उसके लिये फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं हैं और जहाँ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव के अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कार से न करने का दावा करने में ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करने वाला बाहर से चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्म की अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तव में तो इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानों को यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं। नाक को गुलाब के फूल की सुगंध भाती है, मल वगैरह की दुर्गन्ध नहीं। सभी इन्द्रियों के संबंध में यही बात है। इसलिये मनुष्य को इन राग-द्वेषरूपी दो गुणों से बचना चाहिये और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मों की शृंखला में न पड़े। आज वह किया, कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाये, उसे ईश्वर प्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं, वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहं भाव चला जायेगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म से चिपटे रहना चाहिये क्योंकि अपने लिये तो वही अच्छा है। देखने में पर धर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिये। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेष रहित होकर किये जाने वाले कर्म को यज्ञ रूप बतलाने पर अर्जुन ने पूछा—"मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप कर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पाप कर्म की ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेले ले जाता है।"

भगवान् बोले—"मनुष्य को पाप कर्म की ओर ढकेल ले जाने वाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाई की भाँति हैं, काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोध वाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़ने से दर्पण धुंधला हो जाता है, या अग्नि धुएँ के कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्ली में पड़े रहने तक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानी के ज्ञान को प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं या दबा देते हैं। काम अग्नि के समान विकराल है और इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सब पर अपना काबू करके मनुष्य को पछाड़ देता है। इसलिये तू इन्द्रियों से पहले निपट, फिर मन को जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इन्द्रियां, मन और बुद्धि क्रमश: एक दूसरे से बढ़ चढ़कर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्य को आत्मा की अपनी शक्ति का पता नहीं है, इसलिये वह मानता है कि इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, मन वश में नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इन्द्रियों को, मन और बुद्धि को ठिकाने रखने वाले का काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org